

डॉ. शोभना श्रीवास्तव
सहायक प्राध्यापक
श्री सत्य साई महिला महाविद्यालय, भोपाल

खण्ड—1 अध्ययन क्षेत्रों और विषयों की समझ (GEODL-05)

इकाई—2

ज्ञान की प्रकृति में बदलाव

रूपरेखा			
1.0.			ज्ञान एवं पाठ्यक्रम
	1.1.		शिक्षा की विभिन्न प्रकृतियों द्वारा पाठ्यक्रम का निर्माण
2.0.			ज्ञान मीमांसा का स्वरूप
	2.1.		वास्तववादी ज्ञानमीमांसा
		2.1.1.	ज्ञानमीमांसीय एकत्ववाद
		2.1.2.	ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद
		2.1.3.	प्लेटों के नैतिक आदर्शवाद की ज्ञान मीमांसा
		2.1.4.	रूसो के दार्शनिक चिन्तन की ज्ञान मीमांसा
		2.1.5.	कान्ट के दर्शन की ज्ञान मीमांसा
		2.1.6.	हरबार्ट को स्वीकृत ज्ञान मीमांसा
		2.1.7.	फ्रोबेल के दार्शनिक चिन्तन की ज्ञान मीमांसा
		2.1.8.	हरबर्ट स्पेन्सर के दर्शन की ज्ञान मीमांसा
		2.1.9.	डीवी के दार्शनिक चिन्तन की ज्ञान मीमांसा
		2.1.10.	गाँधी सर्वोदय दर्शन की ज्ञान मीमांसा
3.0.			वस्तुनिष्ठ एवं व्यक्तिपरक ज्ञान
	3.1		बालक के विकास पर संस्कृति एवं समूह का प्रभाव
	3.2.		ज्ञान और पाठ्यक्रम को जोड़ने वाले तत्व
	3.3.		अभिवृत्तियाँ एवं ज्ञान
	3.4.		अभिवृत्ति परिवर्तन
4.0.			संस्कृति मुक्त एवं संस्कृति बाध्य ज्ञान
	4.1.		संस्कृति का प्रभाव
	4.2.		संस्कृति एवं व्यवहार

5.0.			पुस्तक विवरण एवं क्षेत्रिय दृश्यावलोकन (भ्रमण)
	5.1.		पाठ्य-पुस्तक का अर्थ
	5.2.		पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता एवं महत्व
	5.3.		अच्छी पाठ्य-पुस्तक की प्रमुख विशेषताएँ
	5.4.		यात्राएँ (Excursions)
		5.4.1.	यात्रा की योजना
6.0.			ज्ञान के आधार
7.0.			संदर्भ:-

विषय— अध्ययन क्षेत्रों और विषयों की समझ (GEODL-05)

खण्ड—2

इकाई—2

ज्ञान की प्रकृति में बदलाव

1.0. ज्ञान एवं पाठ्यक्रम

हन्किन्स (1980) ने बताया कि पाठ्यचर्या का एकमात्र स्रोत शायद ज्ञान है। हम एवं समाज शिक्षार्थी के बारे में जो भी जानते हैं वह विषयवस्तु में चयन में सहायक होता है। बेलक ने विभिन्न संकायों एवं पाठ्यचर्या संरचना एवं ज्ञान के सम्बन्ध का परीक्षण किया। भौतिकशास्त्र की अनोखी संकल्पनात्मक संरचना एवं प्रक्रिया होती है किन्तु गृह अर्थशास्त्र में विभिन्न संकायों से ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

एक साधारण या सामान्य विचारधारा के आधार पर पाठ्यक्रम को ग्रन्थ के ज्ञान से लगाया जाता है, विद्यालय में विविध विषयों की दी जो वाली शिक्षण व्यवस्था पाठ्यक्रम कहलाती है। प्रधानाध्यापक एक निश्चित रूप रेखा के आधार पर अध्यापकों से अध्यापन कार्य करने को कहता है इस प्रक्रिया को पाठ्यक्रम माना जा सकता है या माना जाता है। इस प्रक्रिया में निर्धारित विषयों का अध्यापन ही पाठ्यक्रम माना जाता है, इसे पाठ्यक्रम की विचारधारा भी कहा जायगा। वर्तमान समय में शिक्षा की तमाम मनोवृत्तियों, विचारधाराओं में परिवर्तन आ गया है, शिक्षा को अब एक पुस्तकीय ज्ञान तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता है, आज पाठ्यक्रम को बालक के सर्वांगीण विकास के रूप में स्वीकार किया जा रहा है, विद्यालय को परिवार का ही एक रूप माना जा रहा है शिक्षण प्रक्रियाओं, विधाओं में अनेक परिवर्तन किये गये हैं। नवीन विचाराधाराओं, प्रगतिशील मान्यताओं को स्वीकार किया गया है, इस अवस्था में पाठ्यक्रम में प्राचीन अर्थ में अन्तर आना स्वभाविक ही है।

वर्तमान समय में पाठ्यक्रम में पर्याप्त परिवर्तन हो रहा है इसे ग्रन्थ या पुस्तकीय शिक्षा तक ही सीमित नहीं रखा गया, अपितु पाठ्यक्रम को बालक का सर्वांगीण विकास करने वाला माना जाने लगा है। इसे ही पाठ्यचर्या या पाठ्यचर्या कहा जाता है।

डॉ. वाचस्पति उपाध्याय – पाठ्यक्रम का स्वरूप एक प्रकार से व्यवस्थित होना चाहिए वर्तमान समय में हमारा पाठ्यक्रम सदियों पुराना है। इसे समाजोपयोगी बनाना चाहिए।

1.1. शिक्षा की विभिन्न प्रकृतियों द्वारा पाठ्यक्रम का निर्माण (Construction of Curriculum According to Various Tendencies of Education)

(क). मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति द्वारा पाठ्यक्रम का निर्धारण – पाठ्यक्रम का निर्धारण करते समय मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का पूरा ध्यान रखा जाता है। बालक की रुचियों मूल प्रवृत्तियों, योग्यताओं, भावनाओं, अनुभवों, बुद्धि, व्यक्तिगत विशेषताओं, कार्य क्षमताओं इत्यादि को आधार मानकर पाठ्यक्रम की रचना की जाती है, इसलिए पाठ्यक्रम में क्रीड़ा, अनुभव, क्रिया, रुचि को स्थान दिया जाता है तथा यह भी ध्यान दिया जाता है, कि इसमें बाल विकास की अवस्थाओं व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ पाठ्यक्रम को परिवर्तनशील व लचीला बनाया जा सके।

(ख) वैज्ञानिक प्रवृत्ति द्वारा पाठ्यक्रम का निर्धारण (Determination of Curriculum by Scientific Tendency) पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक प्रवृत्ति को महत्व दिया जाता है छात्रों को पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए वैज्ञानिक व्यावसायिक, औद्योगिक, प्रौद्योगिक विषय की व्यवस्था की जाती है। विज्ञान का प्रभाव व शिक्षा के सभी क्षेत्र में पड़ रहा है। अतः इस में इस प्रकार के विषय प्रस्तुत किये जाते हैं

:- (1) आत्म रक्षा के कार्य। (2) जीवन को परोक्ष रूप से सुरक्षित रखने की क्रिया। (3) सन्तान रक्षा सम्बन्धी कार्य। (4) समाज रक्षा सम्बन्धी कार्य। (5) अवकाश के समय की क्रिया।

(ग) समाजशास्त्री प्रवृत्ति द्वारा पाठ्यक्रम का निर्धारण (Determination of Curriculum by Sociological Tendency) मानव एक सामाजिक प्रणाली है” इस सर्वमान्य मान्यता को मान्यता देते हुए शिक्षा शास्त्रीय प्रवृत्ति एवं तत्वों को महत्व दिया। पाठ्यक्रम की रूपरेखा इस प्रकार से प्रस्तुत की जिससे कि बालक का सामाजिक विकास हो सके। इसमें इन विषयों को समाहित किया गया। श्री राम बाबू गुप्त के अनुसार

- | | |
|------------------------------|-------------------------------|
| (1) स्वास्थ्य शिक्षा | (2) शारीरिक शिक्षण |
| (3) भाषा | (4) गणित |
| (5) सामाजिक अध्ययन | (6) संगीत एवं कला |
| (7) प्रारंभिक विज्ञान | (8) प्रयोगात्मक कलाएँ |
| (9) प्राणी शास्त्रीय विज्ञान | (9) जीविकोपार्ज सम्बन्धी विषय |

शिक्षा समाज के लिए दो प्रकार के कार्य करती है :-

- (1) समाज की संस्कृति तथा परम्परा का संक्रमण (2) समाजोन्नति

2.0. ज्ञान मीमांसा का स्वरूप

2.1. वास्तववादी ज्ञानमीमांसा (Realistic Epistemology)

वास्तववाद के इतिहास में यह स्पष्टतः बताया गया है कि ज्ञानमीमांसा के दो प्रमुख भेद हैं। वास्तवादियों की इन दोनों के प्रति निष्ठा है। एक भेद के अनुसार वस्तुएँ “चेतना” में उपस्थित होती हैं और दूसरे में इनका प्रतिनिधान होता है। ज्ञानमीमांसा के इन दोनों भेदों का सार विस्तृत रूपरेखा सहित यथासंभव विस्तार के साथ दिया जा रहा है।

2.1.1. ज्ञानमीमांसीय एकत्ववाद

अभिनव वास्तववादी वस्तु की ज्ञान प्रक्रिया को ज्ञात और ज्ञेय से सम्बद्ध मानते हैं। उनका मत है कि बाह्य जगत् की वस्तुएँ चेतना में उपस्थित होती हैं, उनका प्रतिनिधान नहीं होता है। अर्थात् जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तब वह बाह्य जगत् में वैसी ही होती है जैसी चेतना जगत् है। वस्तु और हमारे बीच कोई भी मध्यस्थ नहीं होता है। वस्तु का मानसिक प्रतिबिम्ब जो हमारी चेतना में है वहीं वस्तु में है।

किसी परिचित पदार्थ के दृष्टान्त से वस्तुओं का यह साधारण प्रस्तुतिकरण स्पष्ट हो जायेगा। उदाहरण के लिये टेनिस के अपने प्रिय बल्ले को ही लीजिये। आप उस लकड़ी के कण को सदा पसन्द करते थे जिससे यह बना है और इससे बनी पोलिश का भी आनन्द लेते हैं। लाल और हरी तांत से बनी हुई इसकी डिजाइनों में दृष्टि के लिये एक प्रकार का आकर्षण होता है। किन्तु बल्ले का चिकना स्पर्श ही इसमें विशेष महत्वपूर्ण होता है। आपने इसका चुनाव करते हुए अपनी कल्पना में देख लिया था कि जिस बल्ले को मैंने चुना है हिलाने पर उसका भार तथा संतुलन ठीक रहेगा और इधर-उधर से जो गेंद इससे मारी जायेगी उसके मारने पर यह समुचित सिद्ध होगा। आपने मैदान में देखा कि बल्ला वैसा ही सिद्ध हुआ है जैसा कि उसके सम्बन्ध में आपने खेल की दुकान पर कल्पना की थी। इसके अतिरिक्त यह आपकी प्रेणियों को भी आनन्द देता है। अतः यह हमारे शरीर का अंग बन जाता है।

जिस बल्ले का अनुभव आपने अनेक तत्वों के द्वारा किया है वही बल्ला ज्ञानमीमांसा के एकतत्वाद के मानने वाले वास्तववादियों के लिये केवल शब्दात्मक मानसिक प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है। इसके लिये यह वास्तविक लकड़ी और तांत से बना हुआ वास्तविक बल्ला है। जो चिकना, सुन्दर, पालिशदार तथा सनसनाहट के साथ गेंद को माने वाला बैट आपकी चेतना मात्र में है वही बैट वास्तववादी की दृष्टि में वास्तविक है। यह ध्रुव सत्य है कि बैट मौलिक पदार्थों से बा है और यह भी सत्य है कि चेतना तनिक भी भौतिक नहीं है। ऐसा भी मार्ग है जिसके द्वारा टेनिस के खेल में भौतिक पदार्थों से बे हुए बैट में तथा उसकी चेतना में स्थित बैट में किसी केन्द्र बिन्दु पर परस्पर समन्वय हो सके और जब ऐसा संभव हो जाता है तब चेता का बैट चेतना मात्र का न रहकर वास्तविक भौतिक बैट स्वीकृत हो जाता है और फिर वह इसकी झूठी प्रतिध्वनि नहीं रह जाता है।

अभिनव वास्तववादियों का मन से क्या अभिप्राय है इसे समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम अनुभूति में आने वाले बैट तथा भौतिक पदार्थों से बने हुए बैट का समन्वय कर उसकी सार्थकता समझ लें। उनके अनुसार म अवयव तथा वस्तु के बीच का एक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध इस प्रकार का है जिस प्रकार अनेक तत्व तथा प्रत्यक्ष अनुभवों से ज्ञात टेनिस का बल्ला और गेंद को मारने वाला प्रत्यक्ष बल्ला। जब हम मन की परिभाषा इस प्रकार करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि मन हमारे कपाल में रहने वाला अथवा त्वचा में रहने वाला नहीं है किन्तु साधारणतः यह ऐसा ही समझा जाता है। मन बल्ले की परिक्रमा-पथ ने इसी प्रकार उतना ही बाहर है जितना वह शरीर के अंदर विद्यमान है। यदि मन की यही व्यवस्था है तो यह समझ में आ सकता है कि वस्तु तथा चेतना का गुण समान है। बल्ले का कण, डिजाइन, पौलिश, चमक, भार, सन्तुलन, तांत की सनसनाहट जो बल्ले में रहती है वही हमारी चेतना में भी विद्यमान है। इन लक्षणों तथा अन्य गुणों से मुक्त वस्तु एक ही वस्तु है दो नहीं है। ऐसा नहीं है कि एक जगत के स्थान और समय में व्याप्त हो और दूसरी आपकी चेतना में। अभिनव वास्तववादियों के ज्ञानमीमांसीय एकत्ववाद तथा ज्ञान के प्रस्तुतिकरण का यही सिद्धान्त है।

2.1.2. ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद

अनेक वास्तववादी, विशेषकर, आलोचनात्मक वास्तववादी, वास्तववाद की ज्ञान मीमांसा के सम्बन्ध में एकत्ववादी होने की अपेक्षा द्वैतवादी अधिक है। परिणामस्वरूप दर्शन का विद्यार्थी भ्रम में पड़ जाता है। इसको अत्यन्त स्पष्ट रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि ये वास्तवादी अभिनव वास्तववादियों तथा उनके शिष्यों के ज्ञान सम्बन्धी मत से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि वस्तुओं का प्रस्तुतिकरण नहीं होता है अपितु उनका प्रतिनिधान होता है। अभिनववादी पूर्णरूपेण यह स्वीकार नहीं करते हैं कि मन में अन्तःशक्ति निहित है। मन में वस्तु के जो गुण विद्यमान रहते हैं वे वस्तु के उन गुणों से भिन्न होते हैं जिन्हें वस्तु हमें प्रदान करती है। इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण पूर्वोक्त टेनिस के बल्ले से भली-भाँति हो सकता है।

अभिनव वास्तववादी के मत का खण्डन करते हुए आलोचनात्मक वास्तववादी कहते हैं कि आपकी चेतना तथा भौतिक बल्ले का पारस्परिक समन्वय और सामंजस्य कदापि नहीं हो सकता। यह पूर्णतः सत्य है कि आप उस टेनिस बल्ले पर अनुभव करते हैं जिसमें वास्तविकता पूर्णरूपेण समाई हुई है और यह अनुभव भी पूर्णतः प्रमाणिक है। किन्तु यह कल्पना करना भी स्वाभाविक ही होगा कि आपकी चेतना के बल्ले में जो गुण विद्यमान है वे ही गुण बल्ले में स्वयं भी हैं। इसके भेद को और अधिक स्पष्ट करने के लिये वे कहते हैं कि टेनिस के गोचर बल्ले में कुछ रहस्य छिपा हुआ है। जिसके कारण अनुभूति में आपको बल्ले के गुणों का ज्ञान होता है। बल्ले का स्पर्श, भार, सन्तुलन, लकड़ी के कणों का डिजाइन, चमक, तातों की सनसनाहट और दूसरे उन सभी गुणों का तब तक अनुभव नहीं

हो सकता जब तक मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध न हो। मन पेशियों के चलने का, नेत्रों से सम्बद्ध चमक और डिजाइन का कर्ण सम्बन्धी सनसनाहट और ध्वनि इत्यादि का अनुभव करता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वस्तुएँ दो हैं और “मेरा बल्ला” यह शीर्षक समुचित है। यह कहना कठिन है कि इन दोनों वस्तुओं में से वह कौन-सी वस्तु है जो टेनिस के उस वस्तु के रूप में है जिसकी मैं अनुभूति करता हूँ और जिसे हाथ में लेकर मैं खेलना आरम्भ करता हूँ। यह शारीरिक शक्तियों की विशेष व्यवस्था है जिसके कारण मुझमें शक्तियाँ आती हैं। किन्तु टेनिस का बल्ला जो मेरी चेतना में विद्यमान है, मेरा सुपरिचित है और इसमें सभी वर्णित गुण तथा अन्य वे सभी गुण विद्यमान हैं जिनका यथाक्रम वर्णन किया जायेगा। बल्ले की इस प्रकार की स्वीकृति वस्तु की बाह्यरूपता को नष्ट नहीं करती है। यह स्थान तथा समय की परिधि से पृथक है। इसकी रचना मेरी चेतना में नहीं हुई है। इसने मुझ पर अपना विशेष प्रभाव डाला है। किन्तु हमारी चेतना में भौतिक शक्तियों का जो संमिश्रण है और जिसने उस वस्तु को हमारी चेतना में उत्पन्न किया है, इन दोनों का भेद जान लेना नितान्त आवश्यक है।

सचेतन अनुभूति के सम्बन्ध में अधिक कहना केवल पुनरुक्ति मात्र होगी। अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि आलोचनात्मक वास्तवादी गुणों को उन बाह्य भौतिक शक्तियों से पृथक तथा भिन्न मानते हैं जिनकी उत्पत्ति चेतना में होती है। संख्या की दृष्टि से वे निश्चित रूप से भिन्न हैं और कदाचित् ये गुण की दृष्टि से भी भिन्न ही हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि हमारी चेतना में गुणों को उत्पन्न करने वाले भौतिक स्वरूप अपी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। रचना की दृष्टि से यह अपनी उन प्रतिभूतियों से भिन्न होते हैं जिन्हें वे हमारी चेतना में उत्पन्न करते हैं। हमारे नेत्र, नेत्र स्नायु और मस्तिष्क पर प्रकाश किरणों की लम्बाई और उसकी लाली के गुण का जो प्रभाव हम पर पड़ता है यदि इन दोनों की तुलना करें तो यह विषय स्पष्ट हो जायेगा। ये दो रूप भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् प्रकाश की किरणों की लम्बाई और उनका रंग सर्वथा भिन्न हैं।

अनेक आलोचनात्मक वास्तववादियों ने ‘सन्तायना’ के ‘सारग्राही’ के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। इसके ये सचेतन गुण अनुभूति के गुण का स्पष्टीकरण करते हैं जिससे वास्तववाद का मेल खाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक परिमण्डल में गुणों का निवास रहता है और इसी प्रकार एक भौतिक स्थान तथा काल का परिमण्डल है जिसमें वस्तु और शक्तियाँ रहती हैं। यह परिमण्डल सार-परिमण्डल है। गुण को हम सार की संज्ञा देते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सचेतन रूप में आये हुए टेनिस के बल्ले के गुण न तो उन बाह्य भौतिक शक्तियों पर निर्भर हैं, जो वस्तु के अधोस्तर पर हैं और न मन से सम्बद्ध इन्द्रियों की चेतना पर ही आधारित हैं। ये सार तत्त्व स्वतन्त्र हैं और स्वतः से ही समाये हुए हैं। उदाहरण कि लिये जब आप अपने टेनिक के बल्ले को हाथ में लेते हैं और इसे हिलाते हैं या इससे खेलना आरंभ करते हैं तो ये सार तत्त्व आपकी सचेतन अनुभूति को संतुष्ट करते हैं और आप बल्ले की चिकनाहट, भार, सन्तुलन, उसकी तांत तथा गेंद के मारने इत्यादि के गुण का अनुभव करने जाते हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद के मानने वाले वास्तववादी अभिनव वास्तववादियों की अपेक्षा मन को इन्द्रियों के अति निकट मानते हैं।

2.1.3. प्लेटों के नैतिक आदर्शवाद की ज्ञान मीमांसा

ज्ञान के सम्बन्ध में भी प्लेटों के विचार समझने योग्य हैं। ज्ञान को इन्होंने तीन रूपों में बाँटा है — इन्द्रियजन्य ज्ञान, सम्मतिजन्य ज्ञान और चिन्तनजन्य ज्ञान। इनके अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान कभी भी यथार्थ नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियों द्वारा हम जिन वस्तुओं की अनुभूति करते हैं वे परिवर्तनशील

होती है, सम्मतिजय ज्ञान कुछ परिस्थितियों में सत्य हो सकती है लेकिन अनुमान जन्य होने के कारण यह भी अपूर्ण होता है, केवल चिन्तनजन्य ज्ञान ही सत्य होता है क्योंकि यह तर्क के आधार पर विचारों के रूप में प्राप्त होता है। प्लेटों के अनुसार ये विचार आत्मा के गुण हैं। मनुष्य शरीर में प्रवेश करने से पहले आत्मा इन विचारों से पूर्ण होती है, शरीर में ओ के बाद वह इन्हें भूल सा जाती है और भौतिक स्तर पर विचार-विमर्श करने और विश्लेषण एवं तर्क करने से उसके लिए इन विचारों को पुनः स्मरण करना सम्भव हो जाता है। तब हम कहते हैं कि मनुष्य को ज्ञान हो गया। ज्ञान से वह सत्य विचारों की अनुभूति करने में सफल होता है। इन विचारों का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।

2.1.4. रूसो के दार्शनिक चिन्तन की ज्ञान मीमांसा

रूसो के अनुसार प्रकृति का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। प्रकृति शब्द का प्रयोग रूसो ने कई रूपों में किया है – एक उसके लिए जो मनुष्य के प्रयत्न बिना निर्मित है और दूसरी वह जो मनुष्य ने अपने जन्म से पाई है और जिसके साथ मनुष्य ने कोई छेड़-छाड़ नहीं की है। रूसो ने संसार के सभी दुःखों का कारण तत्कालीन सभ्यता और विज्ञान को बताया इसलिए ये इसके ज्ञान को आवश्यक नहीं मानते थे। आगे चलकर इन्होंने आदर्श राज्य का पूरा खाका तैयार किया और मनुष्य की पूरी शिक्षा योजना तैयार की और शिक्षा द्वारा मनुष्य को वह सब सिखाने पर बल दिया जो मनुष्य के लिए समग्र रूप से हितकर है। ज्ञान प्राप्ति के साधन एवं विधियों के विषय में रूसो का स्पष्ट मत है कि बच्चों को कर्मेन्द्रियों द्वारा करके और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा स्वयं के अनुभव से सीखने दो, ज्ञान बाहर से जबरन लादने की वस्तु नहीं, स्वयं करके स्वयं के अनुभव से प्राप्त करने की वस्तु है।

2.1.5. कान्ट के दर्शन की ज्ञान मीमांसा

कान्ट ने अपनी पूरी शक्ति मूल रूप से ज्ञान मीमांसा में ही लगाई है। कान्ट के समय दो विचाराधाराएँ समानान्तर रूप से चल रही थीं— बुद्धिवाद (Relationalism) और अनुभववाद (Empiricism)। बुद्धिवादी यह मानते हैं कि मनुष्य की बुद्धि को जन्म से ही कुछ सत्यों की जानकारी होती है, उन्हें ये प्रागनुभविक प्रत्यय (A Priori Concepts) कहते हैं। इनके अनुसार मनुष्य इन प्रागनुभविक प्रत्ययों द्वारा ही जगत की जानकारी प्राप्त करते हैं। इनके विपरीत अनुभववादी इन जन्मजात मौलिक प्रत्ययों में विश्वास नहीं करते। इनके अनुसार कोई भी मासिक मौलिक प्रत्यय प्रागनुभविक (A Priori) नहीं होते, सभी मानसिक प्रत्यय इन्द्रियानुभव द्वारा उत्पन्न होते हैं अतः वे आनुभविक (A Posteriori) होते हैं और ये ही मनुष्य के ज्ञान के आधार होते हैं। कान्ट के अनुसार ज्ञान का आधार न तो केवल बुद्धि है और न केवल इन्द्रियानुभव। इनके अनुसार ज्ञान की प्राप्ति इन्द्रिया संवेदन और बुद्धि विकल्प, इन दोनों से होती है। कान्ट की प्रसिद्ध उक्ति है— “इन्द्रिय संवेदनों के बिना विकल्प पंगु है और बुद्धि विकल्पों के बिना इन्द्रिय संवेदन अन्ध है।” प्रामाण्य के विषय में कान्ट का विचार है कि भौतिक (व्यावहारिक) ज्ञान तो निश्चित एवं प्रामाणिक होता है, परंतु आध्यात्मिक (परमार्थ) ज्ञान को जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है, यह विश्वास और आस्था का विषय है। व्यावहारिक ज्ञान के विषय में कान्ट का मत है कि यह हमें मस्तिष्क के द्वारा प्राप्त होता है। कान्ट ने मानव मस्तिष्क की चार शक्तियों (Faculties) का उल्लेख किया है—

- प्रथम संवेदनशीलता (Sensibility) इसके द्वारा मनुष्य बाह्य संवेदनाओं को ग्रहण करते हैं।
- दूसरी बुद्धि (Understanding) इसके द्वारा मनुष्य बुद्धि विकल्पों द्वारा बाह्य संवेदनाओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं।
- तीसरी भावना (Feeling) इसके द्वारा मनुष्य सुख-दुख एवं इच्छाओं का बोध करते हैं।

- चौथी संकल्प शक्ति (Will) इसके द्वारा मनुष्य नैतिक-अनैतिक का बोध करते हैं और उसके आधार पर आचरण करते हैं। बुद्धि विकल्प अपने में शक्ति नहीं है, इन्हें शक्ति प्राप्त होती है आत्मा से। बुद्धि अथवा ज्ञान शक्ति (Cognition) को कान्ट ने पुनः ती भागों में विभाजन किया है –

- (1) प्रत्यय (Concepts)
- (2) निर्णय (Judgement)
- (3) अनुमान (Inference) ।

कान्ट की दृष्टि से तर्कना बुद्धि (Intellect) सभी अनुभवों का केन्द्र है। इन्होंने स्पष्ट किया कि अनुभव से संवेदना उत्पन्न होती है और संवेदना से मन की अन्य शक्तियां क्रियाशील होती हैं, इन शक्तियों से आत्मजात या प्रागनुभाविक (Apriori) रूप उत्पन्न होते हैं जो आनुभाविक (Aposteriori) संवेदना को व्यवस्थित कर ज्ञान की रचना करते हैं। इस प्रकार ज्ञान की सामग्री प्रत्यक्ष वस्तु अथवा क्रिया (Percepts) के अनुभव से मिलती है परंतु इन्हें व्यवस्थित करने के लिए प्रागनुभाविक प्रत्यय (A priori Concepts) की आवश्यकता होती है। स्पष्ट है कि ज्ञान के निर्माण में इन्द्रिय संवेदना एवं बुद्धि विकल्प, दोनों आवश्यक होते हैं।

2.1.6. हरबार्ट को स्वीकृत ज्ञान मीमांसा

हरबार्ट ने ज्ञान को दो रूपों में विभक्त किया है – भौतिक ज्ञान एवं आध्यात्मिक ज्ञान। इनकी दृष्टि से मनुष्य जो कुछ भी इन्द्रियानुभव करते हैं वे सब मनुष्यों के मस्तिष्क द्वारा मन पर पहुंचते हैं और यहाँ संग्रहित होते रहते हैं। हरबार्ट के अनुसार मन में विचारों का अचेतनापूर्ण युद्ध होता रहता है जिसके आधार पर कुछ विचार दृढ़ हो जाते हैं और शेष सामान्य रूप में पड़े रहते हैं। हरबार्ट के अनुसार ज्ञान प्राप्ति एवं उसके विकास के तीन आधार होते हैं –

- स्वाभाविक अनुभव,
- सामाजिक अन्तर्क्रिया और
- अनुदेशन।

इनकी दृष्टि से अनुदेशन भी दो प्रकार का होता है – संश्लेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक।

2.1.7. फ्रोबेल के दार्शनिक चिन्तन की ज्ञान मीमांसा

फ्रोबेल की दृष्टि से सृष्टि की प्रत्येक वस्तु विकासशील है और इस विकास की मूल शक्ति उसके अन्दर स्थित है जो कुछ मूल सिद्धान्तों के आधार पर विकास करती है। फ्रोबेल के अनुसार सृष्टि के जड़ पदार्थों एवं जीव जन्तुओं के इस क्रमिक विकास को जानना ज्ञान है और इसके विकास के मूल कारण ईश्वर को जानना सच्चा ज्ञान है। फ्रोबेल के अनुसार मनुष्य किसी भी प्रकार का ज्ञान अपनी अन्तःशक्तियों के द्वारा ही प्राप्त कर सकता है।

2.1.8. हरबर्ट स्पेन्सर के दर्शन की ज्ञान मीमांसा

हरबर्ट स्पेन्सर इस वस्तु जगत के ज्ञान को वास्तविक ज्ञान मानते थे। ज्ञान को भी इन्होंने उपयोगिता क्रम में प्रस्तुत किया है। इन्होंने आत्मरक्षा सम्बन्धी ज्ञान एवं क्रियाओं को प्रथम स्थान दिया है, जीविकोपार्जन सम्बन्धी ज्ञान को द्वितीय, सन्तानोत्पत्ति और शिशुपालन सम्बन्धी ज्ञान को तृतीय, सामाजिक एवं राजनैतिक शिक्षाओं को चतुर्थ और साहित्य, संगीत एवं कला को पंचम एवं अन्तिम स्थान दिया है। इनका तर्क था कि इस वस्तु जगत का वास्तविक ज्ञान हमें विज्ञान द्वारा प्राप्त होता है इसलिए विज्ञान का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। इसका स्पष्ट मत था कि यह ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है इसलिए इस ज्ञान की प्राप्ति, इन्द्रियों द्वारा ही की जानी चाहिए। इन्होंने स्वक्रिया एवं स्वानुभव

द्वारा सीखने पर सबसे अधिक बल दिया है। इनकी दृष्टि से सच्चा ज्ञान प्राप्त करने की यह सर्वोत्तम विधि है।

2.1.9. डीवी के दार्शनिक चिन्तन की ज्ञान मीमांसा

डीवी उन्हीं वस्तुओं और क्रियाओं के ज्ञान को सत्य ज्ञान मानते थे जिनकी मानव जीवन में उपयोगिता है। अब प्रश्न उठता है कि इस सत्य ज्ञान की खोज कैसे होती है। डीवी के अनुसार सत्य की खोज क्रियाओं के परिणाम के आधार पर होती है। इनका स्पष्टीकरण है कि क्रिया द्वारा ज्ञान अर्जित होता है और ज्ञान से सत्य का निर्णय होता है। इस प्रकार डीवी क्रिया को ज्ञान प्राप्ति और सत्य की खोज का आधार मानते थे। अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य सत्य की खोज के लिए अग्रसर कब होता है। डीवी का मत है कि जब उसके सामने कोई समस्या उपस्थित होती है। इनका स्पष्टीकरण है कि समस्या के उपस्थित होते ही मनुष्य उसका हल ढूँढने लगता है। वह सबसे पहले उसके अनेक हलों की कल्पना करता है, फिर इन उपायों को प्रयोग की कसौटी पर कस कर उनकी सत्यता की परख करता है और जो क्रियाएँ सहायक होती हैं उन्हें स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार डीवी द्वारा प्रतिपादित सोचने अथवा सत्य की खोज करने के पाँच पद होते हैं – (1) समस्या अथवा कठिनाई की अनुभूति, (2) समस्या का स्पष्टीकरण, (3) समस्या के सम्भावित समाधानों की कल्पना और उनका लेखन, (4) सम्भावित समाधानों को प्रयोग की कसौटी पर कसना और (5) प्रयोग के परिणामों का अवलोकन और रणिय निकालना। डीवी ने स्पष्ट किया कि समस्या के समाधान की बात तभी उठती है जब मनुष्य को समस्या का स्पष्ट ज्ञान हो। समस्या के स्पष्ट ज्ञान के लिए और समस्या की अनुभूति करने के लिए उसे संवेदनशील होना चाहिए। यह संवेदनशीलता उसी व्यक्ति में होती है जिसमें सामाजिकता का विकास हो चुकता है। डीवी का मत है कि ऐसे संवेदनशील सामाजिक प्राणी ही अपना और समाज का हित करते हैं।

2.1.10. गाँधी सर्वोदय दर्शन की ज्ञान मीमांसा

गाँधी जी ने ज्ञान को दो वर्गों में विभाजित किया – भौतिक ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान। भौतिक ज्ञान के अंतर्गत इन्होंने भौतिक जगत एवं मनुष्य जीवन के विभिन्न पक्षों (सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक) के ज्ञान को रखा है और आध्यात्मिक ज्ञान के अन्तर्गत सृष्टि-सृष्टा और आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी तत्त्व ज्ञान को रखा है। गाँधी जी की दृष्टि से मनुष्य को दोनों प्रकार का ज्ञान आवश्यक है, भौतिक जीवन के लिए भौतिक ज्ञान आवश्यक है और आत्म ज्ञान अथवा ईश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष के लिए आध्यात्मिक ज्ञान आवश्यक है।

गाँधी जी के अनुसार भौतिक ज्ञान की प्राप्ति इन्द्रियों द्वारा की जा सकती है और आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति गीता पाठ, भजन-कीर्तन और सत्संग द्वारा की जा सकती है। गीता को ये आध्यात्मिक ज्ञान का श्रेष्ठतम ग्रंथ मानते थे।

3.0. वस्तुनिष्ठ एवं व्यक्तिपरक ज्ञान

डॉ. एस.एस. माथुर – हमारे देश में इतनी अधिक सामाजिक विभिन्नता है, कि हम भारतीय समाज का वर्णन सरल ढंग से नहीं कर सकते हैं। वास्तव में भारतीय समाज ऐसा जटिल है कि जैसे-जैसे उसकी व्याख्या करने की चेष्ट करते जाते हैं, हम और उलझते जाते हैं। सर्वप्रथम तो यही विवाद है हम भारतीय समाज की कल्पना भी कर सकते हैं या नहीं।

भारत देश में अनेक विवाद थे, फिर भी यहाँ का समाज एक संस्कृति से जुड़ा रहा एक कड़ी में बंधा रहा, एक एकता का श्रेय यहाँ की प्राचीनतम भाषा विश्व भाषा संस्कृत को है।

1. सामाजिक समूह (Social Group) – मानव समाज का एक प्रमुखतम आधार सामाजिक समूह माना जाता है। व्यक्ति अपने शैक्षिक, व्यावसायिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी प्रकार के विकास के कार्यों के साथ सांस्कृतिक मनोरंजन आपस के सम्बन्ध, व्यवहार आदि अनेक विध कार्यों को समाज में ही करता है। समूह से पृथक् उसको जीना मुश्किल है, तथा उसका कोई अस्तित्व भी नहीं रहेगा।
2. व्यक्ति एवं सामाजिक समूह का सम्बन्ध (Individual and Social Group Relationship) – व्यक्ति का सामाजिक समूह से एवं सामाजिक समूह का व्यक्ति से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। एक-एक व्यक्ति से समाज बनता है और समाज व्यक्ति का जन्म की पूर्व अवस्था से अन्तिम अवस्था तक उसका साथ देता है, अतः दोनों आपस में एक-दूसरे के पूरक माने जाते हैं। व्यक्ति से समाज का एवं समाज से व्यक्ति का सम्बन्ध है। व्यक्ति से परिवार, परिवार से गोत्र, गोत्र से अनेक जातियाँ, उपजातियाँ, प्रान्त, राष्ट्र एवं विश्व का निर्माण होता है। विश्व एक विशालतम सामाजिक समूह है। व्यक्ति सामाजिक समूह का निर्माण करता है और सामाजिक समूह उसे जीवन, जीने की कला देने के साथ उसका विकास करता है।

3.1. बालक के विकास पर संस्कृति एवं समूह का प्रभाव

भारतीय समाज अपनी जातियों, वर्गों, सामाजिक एवं धार्मिक समूहों परम्पराओं एवं रीति रिवाजों के साथ बालक के व्यक्तित्व के बौद्धिक, शारीरिक, अध्यात्मिक, संवेगात्मक और सौन्दर्यात्मक पक्षों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव डालता है।

बालक जिस वर्ग जाति, उपजाति, समुदाय, रहन सहन, रीति रिवाज में पालित पोषित किया जाता है, उसमें वहीं संस्कार रहते हैं। यद्यपि वातावरण के अनुसार उनमें परिवर्तन होता है, फिर भी समय पाकर पूर्व संस्कार अपना प्रभाव दिखाते हैं।

1. बालक के शारीरिक विकास पर प्रभाव (Impact of Child's Physical Development) – स्वस्थ शरीर में स्वस्थ विचार आते हैं, स्वस्थ शरीर सभी प्रकार के कार्यों को कुशलता पूर्वक कर सकता है। शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम् वर्तमान समय में विद्यालयों विश्वविद्यालयों में शारीरिक शिक्षा की विशेष व्यवस्था की गई है। स्काउट एवं गाइडिंग, युवक समारोह, राष्ट्रीय योजना आदि अनेक कार्यक्रम किये जाते हैं। विद्यालयों में व्यायाम हेतु तरणताल के साथ ही अनेक प्रकार की आधुनिक सुविधाएँ दी जा रही हैं। विशेष उद्यानों में व्यायाम के आधुनिक उपकरण उपलब्ध करये जा रहे हैं।
2. बालक के मासिक विकास पर प्रभाव (Impact of Child's Intellectual Development) – भारतीय समाज बाल के विकास का पूर्ण ध्यान रखती है, समाज द्वारा उसे सभी प्रकार की सुविधाएँ दी जाती हैं। किसी भी जाति, धर्म, वर्ग का बालक हर प्रकार की आयुर्विज्ञान, कार्मिक, औद्योगिक, प्रौद्योगिक, आदि के अध्ययन हेतु योग्यता क्रमानुसार शिक्षा पाने का अधिकार है। इस प्रकार की समुचित व्यवस्था से ही बाल का मानसिक विकास होता है।
3. बालक के आध्यात्मिक विकास पर प्रभाव (Impact of Child's Spiritual Development) – आध्यात्मिक विकास से तात्पर्य है, बालक को सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का ज्ञान कराना, आध्यात्मिक शिक्षण व्यवस्था के द्वारा बालक का चारित्रिक नैतिक, आत्मिक, व्यवहारिक इत्यादि विकास किया जाता है। सम्प्रति भारतीय शिक्षा में नैतिक शिक्षा को महत्व दिया जा रहा है।
4. बालक के संवेगात्मक व सौन्दर्यात्मक पर प्रभाव (Impact of Child Emotional and Aesthetic Development) – समाज या सरकार वर्तमान में बालक के संवेगात्मक व सौन्दर्यात्मक विकास के लिए अनेक प्रभावशाली कार्यों को योजना रूप में परिणत कर रही है। पाठ्यक्रम में संशोधन करके तदनु रूप पाठ्यक्रम तैयार किया जा रहा है। “एक मार्गीय” पाठ्यक्रम के स्थान पर बहुःदेशीय

पाठ्यक्रम को प्रोत्साहित किया जा रहा है तथा विद्यालयों में शिल्पकला की शिक्षा की भी व्यवस्था की जा रही है।

5. दरिद्रता का प्रभाव (Impact of Poverty) – भारत में कुछ प्रतिशत के लोग ही जीवन का आनंद ले पाते हैं शेष अवशेष खण्डर की तरह समाज में दरिद्रता पूर्ण जीवन यापन कर रहे हैं। फिर भी समाज विद्यालय की निःशुल्क शिक्षा, छात्रवृत्ति, वेशभूषा, पाठ्य पुस्तक निःशुल्क छात्रावास भोजन व्यवस्था के माध्यम से बालक के विकास की व्यवस्था करता है।
6. सांस्कृतिक नियोजन का प्रभाव (Impact of Cultural Disintegration) – आज हम अपनी पुरानी मान्यताओं, आदर्शों, परम्पराओं की अवहेलना करते हैं रीति रिवाज, शिष्टाचार इत्यादि सुव्यवस्थित जीवन क्रम को विकसित करने वाले आदर्शों की अवहेलना करते हैं। समाज का बालक स्वस्थ परम्परा का त्याग कर कुसंगति का अवलम्बन कर रहा है। इन सभी वातावरणों का प्रभाव बालक पर पड़ता है।
7. पारिवारिक विघटन का प्रभाव (Impact of Family Disorganisation) – डॉ. शालिग्राम त्रिपाठी—वर्तमान समय में समाज में विघटन हो रहा है, परंतु परिवार बिखर रहे हैं। स्वार्थी जीवन समाज को अकेला कर रहा है। भौतिकवाद ने समाज को अलग थलग कर दिया है। सभी लोग अपनी—अपनी ढफली अपनी—अपनी राग आलापने लगे हैं। इसका प्रभाव बालक के विकास पर भी पड़ता है।
8. अपराध का प्रभाव (Impact of Crime) – सम्प्रति समाज अपराध, अपराधियों से भरा पड़ा है। बाल अपराध भी काफी बढ़ रहे हैं इन अपराधों पर अंकुश लगाना कठिन हो गया है। बालक के मस्तिष्क पर इन प्रवृत्तियों का कुप्रभाव पड़ता है।
बालक पर प्रायः अहितकर प्रभाव ही पड़ रहे हैं, समाज में इनके संशोधन के उपाय कम हैं। सरकार या समाज एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व से मुखर रही है। बालक के विकास के लिए उचित दिशा की आवश्यकता है।

3.2. ज्ञान और पाठ्यक्रम को जोड़ने वाले तत्व

1. परिवार (Family) – समाजीकरण में परिवार का सबसे महत्वपूर्ण योगदान है। परिवार बालक का लालन पालन पोषण करके उसकी मूलभूत आवश्यकताओं को संगठित करके उसका समाजीकरण करता है। यदि बालक को प्रतिकूल वातावरण दिखाई पड़ा तो उसकी मानसिकता विकृत हो जाती है। परिवार की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थिति का प्रभाव बालक पर पड़ता है। इससे ही बालक के गुणों का विकास होता है, दुर्गुण भी आ जाते हैं।
2. विद्यालय (School) – बालक का वास्तविक समाजीकरण विद्यालय में होता है। वह विभिन्न जाति, समाज, वर्ग, धर्म के छात्रों के साथ रहकर सहिष्णुता, दया, धर्म, नैतिकता, चरित्रता आदि गुणों को आत्मसात् करता है। विद्यालय के पाठ्यक्रम एवं पाठ्येतर क्रियाओं द्वारा उसमें सामाजिकता का विकास होता है। अनुशासन की शिक्षा से वह एक सुसभ्य नागरिक बनता है।
3. समुदाय या समाज (Community or Society) – समुदाय बालक का समाजीकरण इस प्रकार से करता है साहित्य, संगीत, कला, संस्कृति, सांस्कृतिकता, धार्मिकता, समाज की जातीय एवं परम्परागत प्रथायें, वर्ग एवं वर्ण, शिक्षा के सामान्य साधन, अनौपचारिक शिक्षा व्यवस्था, मनोरंज के साधन एवं सामाजिक सुविधाएँ देता है।
4. जाति (Caste) – समाजीकरण में जाति का महत्वपूर्ण योगदान है। जाति विशेष की अपनी परम्पराएँ संस्कार, प्रथाएँ, रीतिरिवाज, धार्मिक, आर्थिक विचार होते हैं। बालक अपनी जाति के अनुसार समाजीकरण करता है तथा उस वर्ग को महत्व देता है।

5. पड़ोस (Neighbourhood) – पड़ोस परिवार की ही तरह मार्ग दर्शक एवं पथ प्रदर्शक होता है। एक अच्छा पड़ोसी ही पिता, माता, मित्र का उत्तरदायित्व वहन करता है। बालक का समाजीकरण में पड़ोस का महत्व है। प्रतिवेश ही अहं भूमिका है।
6. समूह (Group) – समाजीकरण में समूह का महत्व है इसमें मित्र, सहपाठी, मनोरंजन के केन्द्र धार्मिक समूह, क्रीड़ा केन्द्र आदि हैं। यहाँ पर बालक समूह रूप में समाजीकरण कर विकास करता है।

3.3. अभिवृत्तियाँ एवं ज्ञान (Attitudes and Knowledge)

एक हिन्दू मन्दिर में जाता है, मन्दिर की घंटियाँ बजाता है और घण्टियाँ बजाने से ईश्वर में अपनी आस्था व्यक्त करता है, वह जोर से प्रार्थना करता है और उस समय घण्टियाँ बज रही होती हैं। दूसरी ओर एक मुसलमान प्रार्थना के समय पूर्ण शान्ति रहता है। नमाज के समय यदि कुछ भी शोर होता है तो वह उसका प्रतिरोध करता है। एक ईसाई प्रत्येक रविवार को गिरजे में जाता है, ईश्वर के प्रति प्रार्थना-संगीत में भाग लेता है और पादरी साहब से धर्म पर प्रवचन सुनाता है। हिन्दू, मुसलमानों और ईसाई के ये विशिष्ट व्यवहार उन प्रभावों के कारण हैं जो उन पर उनके जीवन के प्रारम्भ से ही पड़ने लगते हैं। समूह ने उनके व्यवहारों पर प्रभाव डाला, व्यक्तियों ने उन व्यवहार प्रतिमाहनों को अपना लिया जो उनके धार्मिक समूह ने उचित समझे। जिस प्रकार से धार्मिक समूह व्यक्तियों के व्यवहार प्रतिमानों पर प्रभाव डालते हैं, उसी प्रकार से प्राथमिक तथा द्वितीयक समूह व्यक्तियों के व्यवहार पर प्रभाव डालते हैं, उसी प्रकार से प्राथमिक तथा द्वितीयक समूह व्यक्तियों के व्यवहार पर प्रभाव डालते हैं। उस समूह की संस्कृति जिसमें कि व्यक्ति पोषित होता है, समूह के रीति-रिवाज और विश्वासों के ग्रहण करने के लिए बहुत बड़ी सीमा तक उत्तरदायी हैं।

हम कह सकते हैं कि प्रत्येक समूह चेतन या अचेतन रूप से अपने सदस्यों पर प्रभाव डालता है ताकि वह उन उद्देश्यों को प्राप्त करने की इच्छा करें जो कि उनके समूह द्वारा आवश्यक समझे जाएँ। इन प्रभावों के कारण व्यक्ति एक विशेष प्रकार से दूसरों समूहों के सम्बन्ध में, दूसरे व्यक्तियों के सम्बन्ध में, या विशेष परिस्थितियों के सम्बन्ध में प्रक्रिया करने लगते हैं। यह व्यक्तियों की विशेष प्रतिक्रियाएँ जो परिस्थितियों, व्यक्तियों या समूहों के प्रति होती हैं, उनकी अभिवृत्तियों पर ही निर्भर होती हैं।

3.4. अभिवृत्ति परिवर्तन (Attitudes Change)

हरबर्ट केलमान (Herbert Kelman) ने अभिवृत्ति परिवर्तन की तीन प्रक्रियाओं के बीच विभेद किया है।

- अनुपालन (Compliance)
- तादात्म्यकरण (Identification)
- आन्तरिकता (Internalization)

अनुपालन (Compliance) उस समय होता है जबकि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या एक समूह के प्रभाव को स्वीकार कर लेता है क्योंकि उसे आशा होती है कि दूसरे व्यक्ति से उसे अनुकूल प्रतिक्रिया प्राप्त होगी। अनुपालन इस प्रकार अभिवृत्ति परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण कारण है। जो अभिवृत्ति परिवर्तन अनुपालन के कारण होती है, उसके सम्बन्ध में यह एक महत्वपूर्ण बात है कि अभिवृत्ति को एक बहुत ही विशिष्ट कारण से अपनाया जाता है। किसी प्रतिक्रिया के पुष्टीकरण को प्राप्त करने के कारण अथवा दण्ड से बचाव के कारण ही अभिवृत्ति में परिवर्तन ले आया जाता है। जैसे एक परीक्षार्थी परीक्षा में उत्तर उसी ढंग से देता है जैसा कि उसका शिक्षक चाहता है। वह अपने व्यक्तिगत मत या विश्वास को व्यक्त नहीं करता। ऐसा वह अनुपालन के कारण ही करता है। यहाँ इस ओर ध्यान देना आवश्यक है कि अनेक स्थितियों में अभिवृत्ति में परिवर्तन जो अनुपालन के कारण होता है, वह उथला तथा दबाव द्वारा अनुपालन प्रकार को होता है। यह केवल अभिवृत्ति की ऊपरी सतह पर ही होता है

और केवल उस ऊपरी सतह पर होता है जिस पर कि अनुपालन कराने वाले का प्रभुत्व होता है। हम “अभिवृत्ति परिवर्तन” शब्द का प्रयोग केवल आन्तरिक तथा आपेक्षित रूप से स्थायी सम्बन्धों के लिए करते हैं। क्योंकि अनुपाल द्वारा परिवर्तन अस्थायी होता है और सतही तौर पर होता है, हम अनुपालन को अस्थायी सामाजिक प्रभाव कहते हैं, न कि अभिवृत्ति परिवर्तन।

केलमान अभिवृत्ति परिवर्तन की दूसरी प्रक्रिया तादात्म्यकरण (Identification) का वर्णन इस प्रकार करते हैं— “तादात्म्यकरण उस समय होता हुआ कहा जा सकता है जबकि एक व्यक्ति वह व्यवहार अपनाता है जो कि दूसरे व्यक्ति या समूह से उद्धृत किया गया है क्योंकि वह व्यवहार उस व्यक्ति को एक सन्तोषजनक आत्म-परिभाषित सम्बन्ध (Satisfying Self-defining relationship) दूसरे व्यक्ति या समूह के साथ प्रदान करता है।” प्रतिष्ठित व्यक्ति या समूह के प्रभाव को, बहुधा उनका अनुकरण करके अथवा उनके मूल्यों या मतों से सहमति प्रकट करके, स्वीकार कर लेना प्रतिष्ठित व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके अथवा बनाए रखने का एक मार्ग है। इस प्रकार तादात्म्यकरण के कारण जो अभिवृत्ति परिवर्तन होता है, वह पुरस्कार या दण्ड जो दूसरे व्यक्तियों द्वारा दिया जा सकता है, उस पर निर्भर नहीं होता है। केवल यह तथ्य कि व्यक्ति दूसरे के प्रभाव को स्वीकार कर लेता है या उस जैसा बन जाना चाहता है, स्वयं में व्यक्ति के अभिवृत्ति परिवर्तन के प्रमाणिकता देता है। एक विद्यार्थी अपने अध्यापक द्वारा प्रतिपादित दर्शन को स्वीकार कर लेता है क्योंकि वह अपने अध्यापक जैसा बन जाना चाहता है। इस प्रकार से जो अभिवृत्ति तादात्म्य की प्रक्रिया द्वारा बनती है, उसमें व्यक्ति का विश्वास होता है।

तीसरी प्रक्रिया जो अभिवृत्ति परिवर्तन में होता है, वह है — आन्तरिकता (Internalization)। आन्तरिकता की प्रक्रिया उस समय होती है जबकि एक व्यक्ति प्रभाव को इस कारण स्वीकार कर लेता है कि जो व्यवहार अभिप्रेरित किया जाना है, वह उसके मूल्यों के संस्थान से एकत्व रखता है। वहाँ पर यह अभिप्रेरित व्यवहार की सामग्री ही है जो मूल रूप से पुरस्कृत करने वाली है। एक अभिवृत्ति की आन्तरिकता इस कारण होती है कि व्यक्ति इस बात में विश्वास रखता है कि अभिवृत्ति एक सही तथा लाभदायक प्रतिनिधि वास्तविकता की है। आन्तरिकता द्वारा जो प्रभाव उत्पन्न होता है उसका मुख्य पथ यह है कि यह ऐसा अभिवृत्ति परिवर्तन लाता है जो कि बाहरी व्यक्तियों या समूहों पर निर्भर नहीं होता है। क्योंकि व्यक्ति वास्तविक रूप से विश्वास रखता है कि अभिवृत्ति सही, लाभदायक एवं मूल मूल्यों के साथ संगति रखती है वह उस अभिवृत्ति को दूसरे व्यक्ति या समूह के प्रभुत्व के होने पर भी बनाए रखता है, उदाहरण के लिए, एक विद्यार्थी एक प्रयोग के परिणामों को सही स्वीकार कर लेता है क्योंकि प्रयोग का नियोजन अच्छे ढंग से हुआ है तथा जो परिणाम निकले, वह उसी प्रकरण पर किए गए अन्य अध्ययनों से संगति रखते हैं। इन कारणों से जब वह परिणामों को स्वीकार कर लेता है तो वह अपनी परीक्षा पास करने के बाद भी उनमें विश्वास रखता है।

अभिवृत्ति परिवर्तन में न केवल मनोवैज्ञानिक रुचि लेते हैं वरन् यह एक महत्वपूर्ण विषय राजनीतिज्ञों, उद्योगपतियों, समाजसेवकों, चिकित्सकों तथा अध्यापकों सबके लिए है। राजनीतिज्ञ चाहता है कि उसके विरोधी उसके पक्ष में हो जाये। उद्योगपति अपनी फैक्टरी द्वारा बनाई गई वस्तु को खरीददारों में स्वीकार कराना चाहता है। समाजसेवक सामाजिक बुराइयों की ओर नकारात्मक अभिवृत्तियाँ बनवाना चाहता है। चिकित्सक चाहता है कि स्वास्थ्य के संबंध में रोगी वांछित वृत्ति बनाये जबकि शिक्षक की रुचि अपने विद्यार्थियों की अभिवृत्ति समाज स्वीकृत वस्तुओं की ओर सकारात्मक रूप से बनाने की है। अतएव प्रत्येक चेष्ट करता है कि अभिवृत्ति में परिवर्तन आ जाये। किन्तु यह इतना

सरल नहीं है। यह तो ठीक है कि कभी कुछ ऐसी घटनायें हो जायें जो कि अभिवृत्ति को बिना प्रयास के ही बदल दें।

परिवर्तन वास्तविक हो या कृत्रिम, इसमें तीन बातें सम्मिलित हैं— परिवर्तन लाने वाला एजेंट अथवा सन्देश वाहक, सन्देश तथा प्राप्तकर्ता। अतएव परिवर्तन लाने में सम्प्रेषण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कौन क्या किसको कहता है और इसका क्या प्रभाव पड़ता है ? यह प्रश्न ही हमें अभिवृत्ति परिवर्तन को समझने में सहायता देते हैं।

केलमान एवं होवलेण्ड (Kelman and Hovland, 1953) को इसका आभास एक हाई स्कूल के विद्यार्थियों के साथ किये गये प्रयोग में हुआ। इन विद्यार्थियों के सामने एक कथन यह वकालत करते हुए रखा गया कि बालापराधियों के साथ न्याय को कम कठोर होना चाहिए। वह व्यक्ति जो इस कथन को विद्यार्थियों के सामने पढ़ते थे उन्होंने दो वेष अपनाये— या तो वह ज्ञानी, न्याय में विश्वास रखने वाले और समस्या के सम्बन्ध में उत्तरदायित्व दिखाने वाले थे (सकारात्मक स्त्रोत) अथवा वह अज्ञानी, पक्षपातपूर्ण और उत्तरदायित्वहीन से थे (नकारात्मक स्त्रोत)। प्रस्तुतीकरण को सुनने के बाद विषयी को यह कहा गया कि वह प्रश्न के सम्बन्ध में अपना मत दें।

तीन हफ्ते के बाद विद्यार्थियों से फिर उनकी बालापराधियों के साथ किये जाने वाले व्यवहार के सम्बन्ध में अभिवृत्ति के बारे में पूछा गया। अब दोनों पहले वाली दशाओं में भाग लेने वाले केवल आधे-आधे विद्यार्थियां (सकारात्मक दशा में भाग लेने वाले आधे तथा नकारात्मक दशा में भाग लेने वाले आधे) को कथन देने वाले के सम्बन्ध में स्मरण कराया गया। बाकी आधे-आधों से कथन देने वाले के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया। उन विद्यार्थियों ने, जिसे स्त्रोत के सम्बन्ध में ज्ञान नहीं कराया गया उन्होंने बहुत कम ही विभिन्नता दिखाई। इसने यह प्रदर्शित कर दिया कि सकारात्मक स्त्रोत का प्रभाव जो कि सम्प्रेषण के तुरन्त बाद दिखाई पड़ा था वह तीन हफ्तों में बिल्कुल गायब हो गया। अनुसन्धानकर्ताओं ने इसका कारण यह दिया कि व्यक्ति सम्प्रेषण के स्त्रोत को उसकी सामग्री की तुलना में शीघ्र भूल जाते हैं किन्तु जब स्त्रोत के सम्बन्ध में स्मरण करा दिया गया तो जो अन्दर सकारात्मक तथा नकारात्मक स्त्रोतों द्वारा उत्पन्न हुआ था वह नहीं रहा जो तीन हफ्ते पहले था। केलमान एवं होवलेण्ड ने सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन उन विषयी के साथ पाया जिनको कि नकारात्मक स्त्रोत द्वारा कथन दिया गया था और जिन्होंने स्त्रोत के सम्बन्ध में स्मरण नहीं कराया गया था। उन्होंने इस निदालु प्रभाव कहा। तात्पर्य यह कि स्त्रोत के साथ जो नकारात्मक गुण जुड़े होते हैं वह समय के साथ कम याद रह जाते हैं, किन्तु जो संवाद या कथन होता है उसकी स्मृति उतनी ही बनी रहती है जितनी कि उस समय जबकि प्रारम्भ में स्त्रोत सकारात्मक रहा हुआ होता है। इस प्रयोग से यह बात सामने आई कि यदि एक अविश्वासी स्त्रोत भी कोई बात कहता है या कोई खबर देता है तो उसे निरर्थक कहकर भुला दिया जाये, ऐसा नहीं होता है। व्यक्ति उसे याद रखते हैं और यह भूल जाते हैं कि स्त्रोत को विश्वसनीयता क्या है।

हमने अभी इस बात का वर्णन किया है कि प्राणी को जब भी कोई उत्तेजक प्राप्त होता है वह एक प्रत्युत्तर देता है। यह प्रत्युत्तर बहुधा पेशियों की गति या ग्रंथियों के स्राव के रूप में होता है। यह किसी निश्चित उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए होता है। मांसपेशियों का प्रत्युत्तर या ग्रंथियों का स्राव उद्दीपक से सम्बन्धित हो सकता है। इससे तात्पर्य यह है कि जब भी कोई उत्तेजक होगा एक प्रत्युत्तर होगा जिसका कि एक उद्देश्य अवश्य होगा। इस प्रकार हमें यह प्रतीत होता है कि हमारे व्यवहारिक प्रत्युत्तर सदैव दृढ़ ही होते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है, हमें मालूम है कि हमारा व्यवहार

नम्य (Flexible) एवं परिवर्तनीय होता है। ऐसा क्यों होता है इसकी व्याख्या आदत परिवार की धारणा को समझने के द्वारा की जा सकती है।

व्यक्तिगत व्यवहार बहुत बड़ी सीमा तक सामाजिक दशाओं पर निर्भर रहता है। जैसे-जैसे सामाजिक दशाओं में परिवर्तन होता है, वैसे-वैसे व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन होता रहता है। व्यक्ति विभिन्न स्थितियों में विभिन्न प्रकार से व्यवहार करना सीखता है ताकि वह एक विशिष्ट उद्देश्य प्राप्त कर सके। वह उसी विशिष्ट उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अपने प्रत्युत्तरों में परिवर्तन लाना सीख लेता है। वह एक ही उद्दीपक के प्रति विभिन्न प्रकार के प्रत्युत्तरों को प्रदर्शित कर सकता है। उदाहरण के लिए यदि उसका उद्देश्य पैसा कमाना है तो वह विभिन्न प्रकार के व्यवसाय को अपना सकता है या वह व्यापार कर सकता है या यहाँ तक कि चोर या डाकू बन सकता है। ये सब प्रत्युत्तर एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। फिर भी वह एक ही लक्ष्य की ओर सक्रिय रहते हैं। आदत परिवार एक इकाई की तरह कार्य करते हैं। यदि आदत परिवार के किसी खण्ड भाग में कोई परिवर्तन लाया जाता है तो उसी प्रकार का परिवर्तन दूसरे खण्ड भागों में आ जाता है। इस प्रकार जो कुछ भी नियम आदत परिवार से किसी एक खण्ड के ऊपर प्रयोग किये जा सकते हैं वह इस इकाई के दूसरे खण्डों के ऊपर भी प्रयोग किये जा सकते हैं। आदत परिवार की छोटी इकाइयाँ मिलकर बड़ी इकाइयों का रूप धारण करती है।

आदत परिवार बहुत कुछ हमारे व्यवहार के लिए उत्तरदायी होते हैं। यदि हम एक व्यक्ति के व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ भविष्यवाणी करना चाहते हैं तो हमें आदत परिवारों की मूल विशेषताओं का पता लगाना होगा। प्रत्युत्तरों का एक वर्ग जिसे हम एक आदत परिवार कहते हैं, उसका अध्ययन इससे प्रथम कि व्यक्ति के व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ कहा जाय तो वह किसी एक विशिष्ट उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए प्रदर्शित करता है, आवश्यक है। एक डाकू रुपया कमारे के लिए उन प्रतिक्रियाओं को करेगा, जिनको हम सरलता से असामाजिक कह सकते हैं।

यह कहना अति कठिन है, यद्यपि असम्भव नहीं है, कि मानवों का कौन-सा व्यवहार प्राकृतिक और कौन-सा सीखा हुआ या अर्जित है। कुछ व्यक्तियों का विश्वास है कि सीखने के नियमों में हेर-फेर लाकर हम मानव-प्रकृति को बदल सकते हैं अथवा मानव-समायोजन में सहायता पहुँचा सकते हैं। किन्तु यह समझने के लिए कि मानव प्रकृति में क्या परिवर्तन लाए जायें, यह समझना आवश्यक है कि मानव-प्रकृति है क्या ? बिना यह जाने हुए हमारे लिए यह बात अत्यन्त कठिन है कि सीखने के उन नियमों का प्रतिपादन कर सकें जो कि मानव-प्रकृति में समायोजन लाने में सहायता प्रदान करें।

4.0. संस्कृति मुक्त एवं संस्कृति बाध्य ज्ञान (Culture bounded knowledge)

आदिकाल की संस्कृति का अध्ययन तथा उस संस्कृति का वर्तमान की संस्कृति से तुलना ने मानव की मूल प्रकृति पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न प्रकार के व्यवहार मिलते हैं। वह जातियाँ जिनके साथ कुछ विशिष्ट विशेषताएँ जुड़ी होती हैं, अपनी उन विशेषताओं को प्राकृतिक तथा सामान्य समझती हैं। इस प्रकार से विभिन्न संस्कृतियों में पलने वाले व्यक्ति विश्वास करते हैं कि उनका अपना व्यवहार का तरीका प्राकृतिक है जबकि दूसरी संस्कृतियों के व्यक्तियों के व्यवहार के तरीके अप्राकृतिक या त्रुटिपूर्ण हैं। इन दशाओं में हम सरलता से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कोई मानव गुणों की एक ऐसी सूची जो सर्वमान-

एक मानव बालक के शैशव काल का समय बहुत लम्बा होता है। इस काल में बालक असहाय होता है और उसके परिवार के सदस्यों एवं समाज की संस्कृति उसके ऊपर बहुत अधिक प्रभावशाली होती

है। अतएव जो कुछ भी हम बालक का व्यवहार देखते हैं उसको हम प्राकृतिक व्यवहार की संज्ञा नहीं दे सकते, क्योंकि उसके व्यवहार के ऊपर सांस्कृतिक या सामाजिक प्रभावों का असर पड़ चुका होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भोजन, काम या इसी प्रकार के दूसरे प्रणोदन समस्त व्यक्तियों में मिलते हैं किन्तु इनके प्रदर्शन में विभिन्न संस्कृतियों के कारण विभिन्नता दिखलाई पड़ती है। इस प्रणोदन के सम्बन्ध में यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि यह कितना प्राकृतिक है, वंशानुक्रमिक है, कितना प्रौढ़ता एवं शारीरिक बनावट पर निर्भर है और कितना सीखने के द्वारा बदला जा चुका है। कुछ भी हो, हम इतना कह सकते हैं कि सीखने में सामाजिक तत्व या सांस्कृतिक व्यवहार बहुत कुछ नियंत्रण रखते हैं। जो कुछ भी सीखा या अर्जित किया जाता है वह सामाजिक परिस्थितियों में होता है। एक बालक जो पंजाबी परिवार में पैदा होता है, वह सरलता से पंजाबी बोलना सीख जाता है। यदि यही बालक एक मद्रासी परिवार में उत्पन्न होता या जन्म के बाद किसी दक्षिणी परिवार रखा जाता तो शीघ्रता के साथ ही वह तमिल या तेलगू या किसी अन्य दक्षिणी भाषा को सीख लेता। किन्तु यहां यह याद रखना चाहिए कि व्यक्तियों में व्यक्तिगत विभिन्नताएँ होती हैं। इसलिए यह दूसरी बात है कि यह बाल शीघ्रता से सीख लें और दूसरे बालक को सीखने में कठिनाई हो। किस प्रकार से व्यक्तिगत विभिन्नताएँ सीखने की क्रियाओं पर प्रभाव डालती हैं ? यह एक ऐसा प्रश्न है जो कि प्रस्तुत पुस्तक के क्षेत्र से बाहर है। यहां पर हम केवल इस बात पर बल दे रहे हैं कि किसी प्राकृतिक सज्जा के साथ कोई भी बालक उत्पन्न हो, वह सीखता अवश्य है और उसके सीखने पर सामाजिक तत्व बहुत प्रभाव डालते हैं।

4.1. संस्कृति का प्रभाव (Effect of Culture)

विभिन्न संस्कृतियों में व्यक्ति के व्यवहार में विभिन्नता आ जाती है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि संस्कृति व्यक्तित्व के ऊपर गहरा प्रभाव डालती है। लिण्टन महोदय के अनुसार संस्कृति तथा व्यक्तित्व के संबंध में चार मान्यताएँ (Postulates) बताई गई हैं –

1. व्यक्ति के प्रारम्भिक अनुभव उसके व्यक्तित्व पर स्थायी प्रभाव डालते हैं। विशेष रूप से यह प्रभाव उसकी प्रक्षेपण व्यवस्था के विकास पर पड़ता है।
2. एक से अनुभव एक से व्यक्तित्व समूहों का निर्माण करते हैं।
3. किसी भी समाज के सदस्य अपने बालकों के पोषण के लिए समान प्रकार की प्रविधियों का उपयोग करते हैं, हालांकि ये प्रविधियाँ पूर्णरूप से एक-सी नहीं होतीं।
4. विभिन्न समाजों में बालकों के पालन-पोषण की प्रविधियाँ विभिन्न होती हैं।

ये मान्यताएँ स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करती हैं कि व्यक्तित्व पर व्यक्ति के प्रारम्भिक अनुभव बहुत प्रभाव डालते हैं और यदि यह अनुभव समान हैं तो समान प्रकार का व्यक्तित्व विकसित हो जाता है। क्योंकि किसी भी समाज में प्रारम्भ से ही बालकों के पोषण के लिए समान प्रविधियों का उपयोग होता है, इसलिए एक समाज में अधिकतम बालकों के प्रारम्भिक अनुभव समान होते हैं। इस प्रकार से उनके व्यक्तित्व का विकास समान दिशा में होता है। यदि समाज विभिन्न है तो बालकों का पोषण भी विभिन्न ढंग से होगा तथा उनके प्रारम्भिक अनुभव भी विभिन्न प्रकार के होंगे। अतएव हम विभिन्न समाजों में विभिन्न व्यक्तित्व की आशा कर सकते हैं।

संस्कृति, व्यक्तित्व पर बालक के बाल्यकाल से ही प्रभाव डालती है। रूथ बनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने लिखा है, “जिस समय से बालक उत्पन्न होता है, उस समाज के रीति-रिवाज जिसमें कि वह पैदा हुआ है, उसके अनुभव या व्यवहार पर प्रभाव डालते हैं। उस समय तक जब तक कि वह बातें करना लगता है, वह अपनी संस्कृति का एक छोटा प्राणी बन जाता है और उस समय तक जब तक वह

पढ़ता है और क्रियाओं में भाग ले सकता है उसकी संस्कृति की आदतें उसकी आदतें बन जाती हैं, संस्कृति के विश्वास उसके विश्वास बन जाते हैं और संस्कृति की असम्भावनाएँ उसकी असम्भावनाएँ बन जाती हैं।”

इस बात को और स्पष्ट करने के लिए कि संस्कृति और व्यक्तित्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है, हम यहाँ एलपोर्ट महोदय के मत को प्रस्तुत कर रहे हैं। उका कहा है कि – “क्योंकि व्यक्तित्व एक बड़ी सीमा तक सामाजिक परम्पराओं, रीति-रिवाज एवं नियमों का अन्तर्दर्शन एवं रूपान्तर है, इसलिए यह जानना शिक्षादायक होता कि किन सांस्कृतिक उद्दीपकों एवं प्रतिमानों के समक्ष व्यक्ति अपने विकास मार्ग में अभिदर्शित होता है, इस सामाजिक प्रेम का ज्ञान पूर्ण अनुभूति के लिए अनिवार्य है”

4.2. संस्कृति एवं व्यवहार (Culture and Behaviour Patterns)

संस्कृति व्यक्ति के व्यवहारों के प्रतिमानों पर प्रभाव डालती है। इसका वर्णन हम अभी कर चुके हैं कि विभिन्न संस्कृतियों में व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता है। यहाँ हमारा उद्देश्य उपर्युक्त विवाद को और आगे बढ़ाना है और इस बात पर प्रकाश डालना है कि किस प्रकार से विभिन्न व्यवहार के प्रतिमानों पर संस्कृतियाँ प्रभाव डालती हैं और किस प्रकार से व्यक्तित्व की विभिन्नताएँ उभर आती हैं।

- **आन्तरिक जैविक व्यवहार (Internal Biological Behaviour)**

यह कहना अत्यन्त कठिन है कि संस्कृति का प्रभाव शरीर की वृद्धि नाड़ी की गति एवं इसी प्रकार की जैविक क्रियाओं पर पड़ता है कि नहीं। फिर भी अनेक अध्ययनों के आधार पर कुछ विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि ऐसी जैविक क्रियाएँ वंशानुक्रम पर निर्भर रहती हैं, न कि सांस्कृतिक प्रभावों पर।

प्रायः यह देखा गया है कि “सहन करना” (Tolerance) सांस्कृतिक रूप से प्रभावित होता है। इसके उदाहरण अनेक सांस्कृतिक अध्ययनों द्वारा प्रस्तुत किए जा सकते हैं। पिलागा (Pilaga) जाति के व्यक्ति जबकि वे गम्भीर रूप से रोगी होते हैं, तब भी वे भोजन करते रहते हैं और खूब खाते रहते हैं, फिजियन्स (Fijians) जाति में सुन्दर स्त्री को देखकर मुँह में लार आ जाने के उत्तेजना होती है। बहुत-सी ऐसी जातियाँ हैं जो कि नमक का उपयोग बिल्कुल नहीं करतीं।

- **गतिमामी आदतें (Motor Habits)**

गतिमामी आदतों पर भी संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न प्रकार की आदतें पाई जाती हैं। मेक्सिको में जब बालक की ऊँचाई का संकेत करना होता है तो हथेली को पृथ्वी से समकोण बताता हुआ रखकर बताते हैं जबकि अमेरिका में हथेली को पृथ्वी के समानान्तर रखकर संकेत किया जाता है।

- **प्रत्यक्षीकरण (Perception)**

अनेक अध्ययनों में संस्कृति का प्रभाव प्रत्यक्षीकरण पर देखा गया है। हेलोवेल (Hallowell) ने दिखाया गया है कि किस प्रकार से भाषा कला के नमूने, विश्वास और संस्कृति के दूसरे रूप प्रत्यक्षीकरण के लिए महत्वपूर्ण हैं। वह इस बात की व्याख्या करता है कि यह संस्कृति का रूप किस प्रकार से व्यक्ति के प्रत्यक्ष अनुभवों में घुलमिल जाता है। वह इस बात का भी वर्णन करता है कि वह प्रत्यक्षीकरण के क्षेत्र की पूर्णरूप से संरचना में क्या कार्य करते हैं एवं व्यक्ति के आचरण पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है।

समय के प्रत्यय को ध्यान में रखकर यह देखा गया है कि नेवाहो (Nevaho) जाति के लोग एक के बाद दूसरे कार्य की क्रमशीलता को समझ सकते हैं किन्तु कार्य की अलग-अलग विधियों को समझने

में सफल नहीं होते। परन्तु इसके विपरीत धारणाएँ सेण्ट लारेंस ऐस्किमोज (Saint-Lawrence's Eskimos) में पाई जाती है। रंगों का प्रत्यक्षीकरण भी संस्कृति पर निर्भर रहता है। इस प्रकार की विभिन्नताओं में भाषा एक महत्वपूर्ण कार्य करती है।

- **बोध (Cognition)**

होडगन (Hodgen) महोदय का कहना है कि— “अधिकतर व्यक्तियों में रीति-रिवाज विचारों का एक स्थानपन्न है। विभिन्न संस्कृतियों में विचार के प्रतिमान विभिन्न हाते हैं।” नेडल (Nedal) महोदय ने अफ्रीका की दो जातियों पर प्रयोग किए। उन्होंने यह पाया कि सामान्य योरुबा (Yoruba) जाति के व्यक्ति ने स्पष्ट रूप से तार्किक समन्वय करने में महत्वपूर्ण सत्यों पर ध्यान केन्द्रित करने में तथा अर्थपूर्ण व्याख्या करने में अधिक योग्यता दिखाई। दूसरी ओर न्यूप (Nupe) जाति में देखा गया कि इसमें स्मृति तथा विवरण सम्बन्धी योग्यता अधिक थी और सौन्दर्यानुभूति तथा विवरणात्मक वर्णन तथा सुडौलपन की भावना अधिक मात्रा में प्रदर्शित होती थी।”

प्रत्यक्षीकरण तथा विचार का भी अध्ययन किया गया। यह देखा गया कि टुर्कीस (Turkese) शुद्ध जल तथा समुद्री जल को पूर्णरूप से विभिन्न वस्तु समझते हैं। ट्रोब्रेण्डर्स (Trobrianders) विभिन्न शब्दों से पके तथा कच्चे फलों का वर्णन करते हैं।

- **प्रभाव (Afect)**

विभिन्न संस्कृतियों में संवेगों का प्रदर्शन एवं वे स्थितियाँ जिनमें कि विशिष्ट संवेग उत्तेजित होते हैं, विभिन्न होते हैं। ला बार (La Barre) ने इस बात को स्पष्ट करने के लिए अनेक उदाहरण दिये हैं। जापान के अन्दर एक आदमी फुनकार (Hisses) करता है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह अपने से सामाजिक रूप में श्रेष्ठ व्यक्तियों के प्रति आदर प्रदर्शित करता है। वसूठों व्यक्ति फुतकार द्वारा सराहना प्रदर्शित करते हैं। किन्तु इंगलैण्ड में जब व्यक्ति फुतकार करते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि वह किसी अभिनेता या वक्ता के प्रति असम्मान प्रकट कर रहे हैं। हमारे देश में थूकना घृणा का सूचक है। जब हम किसी दूसरे के मुँह पर थूकते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि हम दूसरे से घृणा करते हैं, किन्तु अफ्रीका की मसाई (Masai) जाति में यह स्नेह और भलाई का चिन्ह है।

5.0. पुस्तक विवरण एवं क्षेत्रिय दृश्यावलोकन (भ्रमण) (Book-View to Field View)

अनुदेशात्मक सामग्री के रूप में सर्वाधिक प्रयोग की जाने वाली सामग्री पाठ्य-पुस्तक ही है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में पाठ्य-पुस्तकों का महत्व सर्वविदित है। पाठ्यक्रम की वास्तविक रूपरेखा को पाठ्य-पुस्तकों द्वारा ही विस्तार मिलता है जिससे वह शिक्षक एवं छात्र दोनों के लिए सुगम हो पाता है। सीखन के अनुभवों में पाठ्य-पुस्तकों का महत्वपूर्ण स्था है। पुस्तकों के माध्यम से अतीत के ज्ञान तथा अनुभवों को संचित किया जाता है जिससे आने वाली पीढ़ी उसका उपयोग करके लाभान्वित हो सके। पाठ्य-पुस्तक में किसी विषय विशेष का संगठित ज्ञान एक स्थान पर रखा जाता है। इस प्रकार अच्छी पाठ्य-पुस्तकें शिक्षण प्रक्रिया में निर्देशन का कार्य करती हैं। अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के लिए यह महत्वपूर्ण साधन है।

5.1. पाठ्य-पुस्तक का अर्थ (Meaning Of Text-Book)

किसी विषय के ज्ञान को जब एक स्थान पर पुस्तक के रूप में संगठित ढंग से प्रस्तुत किया जाता है तो उसे पाठ्य-पुस्तक की संज्ञा प्रदान की जाती है। पाठ्य-पुस्तक के अर्थ को सुस्पष्ट करने के लिए कुछ प्रमुख विद्वानों के कथनों को प्रस्तुत करना यहाँ पर समीचीन प्रतीत हो रहा है।

हैरोलिकर (Harolicker) के अनुसार— “पाठ्य-पुस्तक ज्ञान, आदतों, भावनाओं, क्रियाओं तथा प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण योग है।”

हाल-क्वेस्ट (Hall-quest) के शब्दों में— “पाठ्य-पुस्तक शिक्षण अभिप्रायों के लिए व्यवस्थित प्रजातीय चिन्तन का एक अभिलेख है।”

डगलस (Duglas) का कथन है— “अध्यापकों के बहुमत ने अन्तिम विश्लेषण के आधार पर पाठ्य-पुस्तक को वे क्या और किस प्रकार पढ़ायेंगे, की आधारशिला माना है।”

बेकन (Bacon) का कहना है — “पाठ्य-पुस्तक कक्षा-प्रयोग के लिए विशेषज्ञों द्वारा सावधानी से तैयार की जाती है। यह शिक्षण युक्तियों से भी सुसज्जित होती है।”

5.2. पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता एवं महत्व (Need and Importance of Text-Books)

पाठ्य-पुस्तक के महत्व को स्पष्ट करते हुए क्रॉनबैक (Cronback) ने कहा है कि, “अमेरिका में आज के शैक्षिक चित्र का केन्द्र-बिन्दु पाठ्य-पुस्तक है। इसका विद्यालय में महत्वपूर्ण स्थान है। इसका अतीत में भी अधिक महत्व था तथा आज भी है। इसको जनसामान्य की भी लोकप्रियता प्राप्त होती है, क्योंकि पाठ्य-पुस्तक विद्यालय या कक्षा में छात्रों तथा शिक्षकों के लिए विशेष रूप से तैयार होती है, क्योंकि पाठ्य-पुस्तक विद्यालय या कक्षा में छात्रों तथा शिक्षकों के लिए विशेष रूप से तैयार की जाती है जो किसी एक विषय या सम्बन्धित विषयों की पाठ्यवस्तु का प्रस्तुतीकरण करती है।”

पाठ्य-पुस्तक की आवश्यकता एवं महत्व को निम्नांकित कारणों से स्वीकार किया जाता है —

1. पाठ्य-पुस्तक में निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार विषय का संगठित ज्ञान एक स्थान पर मिल जाता है।
2. पाठ्य-पुस्तकें शिक्षकों एवं छात्रों के लिए मार्गदर्शन का कार्य करती है।
3. पाठ्य-पुस्तकों के द्वारा छात्रों एवं शिक्षकों को यह जानकारी मिलती है कि किसी कक्षा-स्तर के लिए कितनी विषयवस्तु का अध्ययन-अध्यापन करना है।
4. इनके द्वारा छात्रों एवं शिक्षकों के समय की बचत होती है।
5. छात्रों का मानसिक स्तर इतना ऊँचा नहीं होता है कि वे विद्यालय में पढ़ाई गई विषयवस्तु को एक ही बार में आत्मसात् कर सकें। उन्हें विषयवस्तु को कई बार पढ़ना एवं दुहराना पड़ता है। अतः पाठ्य-पुस्तक की आवश्यकता होती है।
6. योग्य शिक्षकों का ज्ञान भी अव्यवस्थित होता है। अतः उसे व्यवस्थित करने में पाठ्य-पुस्तक सहायक होती है। इसी प्रकार छात्रों के अपूर्ण ज्ञान को परिवर्धित एवं पूर्णता प्रदान करने के लिए यह सहायक होती है।
7. पाठ्य-पुस्तकों के माध्यम से स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्त करने में छात्रों को प्रेरणा प्राप्त होती है।
8. पाठ्य-पुस्तक के आधार पर कक्षा-कार्य तथा मूल्यांकन सम्भव होता है।
9. पाठ्य-पुस्तक के आधार पर प्रत्येक राज्य में, प्रत्येक कक्षा में एक निश्चित पाठ्यवस्तु का अध्यापन सम्भव होता है तथा इससे छात्रों का मूल्यांकन सामूहिक रूप से किया जा सकता है।
10. पाठ्य-पुस्तकें छात्रों को विषयवस्तु को संकलित करने में सहायता प्रदान करती है।
11. इनके माध्यम से छात्रों की स्मरण एवं तर्क-शक्ति का विकास होता है।
12. पाठ्य-पुस्तकें मन्दबुद्धि तथा प्रतिभाशाली दोनों प्रकार के बालकों के लिए उपयोगी होती है।
13. ये परीक्षा के समय छात्रों की सहायक होती है।
14. पाठ्य-पुस्तकें शिक्षक को कक्षा-स्तर के अनुसार शिक्षण कार्य करने का बोध कराती है।
15. पाठ्य-पुस्तक में विषयवस्तु को तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है जिससे छात्रों के लिए विषयवस्तु सरल एवं सुगम हो जाती है।

16. पाठ्य-पुस्तक कक्षा-शिक्षण की अनेक कमियों को भी दूर करती है। कक्षा-शिक्षण के समय शिक्षक सभी छात्रों पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान नहीं दे पाता है (अतः पाठ्य-पुस्तकों की सहायता से छात्र व्यक्तिगत रुचि एवं गति के साथ अध्ययन कर सकते हैं)।
17. पाठ्य-पुस्तकें शिक्षकों तथा छात्रों को विद्वानों के बहुमूल्य विचारों एवं उपयोगी अभुवों को प्रदान करती हैं जिससे वे इन अनुभवों का लाभ उठाने में समर्थ हो सकते हैं।
18. पाठ्य-पुस्तकों से अध्ययन-अध्यापन में एकरूपता आती है।
19. पाठ्य-पुस्तकों में विषय के पाठ्यक्रम की सम्पूर्ण रूप में व्याख्या की जाती है जिसमें शिक्षक उपयुक्त अधिगम अनुभव प्रदान कर सकता है।
20. विभिन्न शिक्षा आयोगों द्वारा भी पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता एवं महत्व को स्वीकार किया गया है।

5.3. अच्छी पाठ्य-पुस्तक की प्रमुख विशेषताएँ (Main Characteristics of Text-Book)

एक अच्छी पाठ्य-पुस्तक में निम्नांकित गुणों का होना आवश्यक होता है –

1. विषयवस्तु का प्रस्तुतीकरण बालकों के मानसिक स्तर के अनुरूप।
2. विषयवस्तु का संगठन तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक।
3. व्याख्या, स्पष्टीकरण, उदाहरणों आदि की सहायता से विषय का सरलीकरण।
4. भाषा-शैली में सरलता, स्पष्टता, मौलिकता एवं प्रवाहशीलता।
5. विद्यार्थियों में स्वयं पढ़ने की रुचि विकसित कर सकने की क्षमता।
6. अन्य लेखकों, विद्वानों के संदर्भ स्पष्ट, विश्वसनीय एवं वैध हो।
7. मुख्यपृष्ठ सचित्र, आकर्षक एवं सोद्देश्य हों।
8. मुद्रण स्वच्छ, शुद्ध एवं स्पष्ट हो।
9. आकार सुविधाजनक।
10. अध्यायों के आकार बालकों के स्तर एवं क्षमताओं के अनुरूप।
11. विषयवस्तु का प्रस्तुतीकरण शिक्षण उद्देश्यों एवं मूल्यों के अनुरूप।
12. विषयवस्तु से सम्बन्धित आधुनिकतम घटनाओं, तथ्यों एवं समस्याओं पर बल।
13. विषयवस्तु के अनुकूल चित्रों, मानचित्रों, रेखाचित्रों आदि का प्रस्तीकरण।
14. विषय-सूची, शब्दावली, संदर्भ ग्रन्थ-सूची, निर्देश नियमावली आदि का समावेश।
15. चिन्तन एवं नवीन विचारों का प्रस्तुतीकरण।
16. विषयवस्तु से किसी की भी भावनाओं को आघात न पहुँचना अर्थात् धर्मनिरपेक्षता की भावना पर ध्यान।
17. अध्याय के अन्त में विद्यार्थियों द्वारा स्वतः मूल्यांकन हेतु अभ्यास प्रश्नों का समावेश।

5.4. यात्राएँ (Excursions)

जेम्स फेयर ग्रीव ने लिखा है कि बजाय मस्तिष्क के अधिकांश भूगोल पैरों के द्वारा अध्ययन किया जा सकता है। इसका अभिप्राय यही है कि छात्रों में घूमकर स्वयं निरीक्षण करके अध्ययन की प्रवृत्ति एवं अध्ययन करने की क्षमता का विकास करा शिक्षण का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। इसलिए यह आवश्यक है कि खोज की भावना का विकास छात्रों में किया जाय ताकि छात्र बहुत-सी बातों की स्वतः खोज करें, देखें विचारें और समझें। परंतु यह सब कक्ष में नहीं किया जा सकता। इसके लिए छात्रों को कक्षा से बाहर निकलकर सामग्री का अध्ययन करना होगा। यह अध्ययन यात्राओं अथवा सरस्वती यात्राओं के द्वारा भी किया जा सकता है।

शैक्षणिक दृष्टि से महत्व –

यात्राओं का शैक्षणिक दृष्टि से अत्यंत महत्व है। यही कारण है कि आजकल विद्यालयों में भ्रमण, टूर, विद्यालय-यात्रा, सरस्वती यात्राएँ, यात्राएँ आदि आयोजित होती रहती हैं, जिसे होने वाले कतिपय लाभों को हम निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं।

1. स्वयं निरीक्षण द्वारा ज्ञान — इन यात्राओं के द्वारा छात्र स्वयं निरीक्षण के द्वारा ज्ञानार्जन करते हैं। अतः उनका यह निजी ज्ञान (Self earned Knowledge) होने के कारण अधिक स्थायी होता है।
2. छात्रों में तार्किक शक्ति का विकास — इन यात्राओं में छात्रों को बहुत सी बातें स्वयं देखकर पुनः विचार कर ज्ञान को ग्रहण करना चाहिये। इससे उनमें तर्क शक्ति बढ़ेगी। उदाहरणार्थ, यदि छात्र भूमि कटाव को देखते हैं, तो उन्हें यह सोचना पड़ता है कि यह कटाव कैसे हुआ ? भूमि-कटाव कहीं कम और कहीं अधिक क्यों है ? कैसे इस कटाव को रोका जा सकता है ? आदि। इस प्रकार के आयोजन से तर्कपूर्ण विचारों द्वारा समाधान मिलता है।
3. प्रत्येक बालक एक जिज्ञासापूर्ण प्राणी है। कक्षा से बाहर उसे नयी-नयी चीजें देखने को मिलती हैं जिससे उसकी जिज्ञासा शान्त होती है। यात्राएँ इस कार्य में मदद देती हैं क्योंकि छात्रों को जिज्ञासा के लिए सामग्री मिल सकती है।
4. कक्षा में नीरस वातावरण से कभी छात्र ऊब जाते हैं। उन्हें मनोरंजन की आवश्यकता होती है। अतः यात्राओं के आयोजन द्वारा न केवल मनोरंजन होता है वरन् ज्ञान में भी अभिवृद्धि होती है।
5. कुछ शिक्षा शस्त्रियों का विचार है कि यात्राओं के द्वारा छात्रों में शारीरिक एवं मानसिक विकास समन्वित रूप से होता है।
6. इन यात्राओं के माध्यम से छात्र एक-दूसरे छात्र एवं शिक्षकों के सम्पर्क में आते हैं। इससे उन्हें सामूहिक रूप से जिम्मेदारियाँ निभाने का मौका मिलता है और एक कुशल सामाजिक नागरिक बनने का पूर्वाभ्यास हो जाता है।
7. सरस्वती यात्राओं अथवा यात्राओं से छात्रों में संगठन एवं नेतृत्व के गुणों का विकास होता है।
8. छात्रों को समूहिक अनुशासन का प्रशिक्षण मिलता है।
9. छात्रों के बहुत-से छिपे गुण सामने आते हैं।
10. इनके लाभों के अतिरिक्त विभिन्न पाठों में यह ज्ञान सहायता होता है, यथा-हवा के कार्य, नदी के कार्य, जल के कार्य, सूर्य ताप का प्रभाव विभिन्न फसलों के बोने से लेकर काटने तथा अन्न निकालने की स्थिति, उद्योगों के स्थानीयकरण के कारणों का ज्ञान, आवागमन के साधनों का ज्ञान आदि।
11. बहुत सारे शब्द बिना स्वयं देखें नहीं समझे जा सकते हैं, यथा — तेज ढाल, लतोदर ढाल, घाटियाँ, झरने, पहाड़ आदि। इन यात्राओं से उनका वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है।
12. स्वयं दर्शन एवं निरीक्षण के द्वारा छात्र देश एवं विश्व के भागों के बारे में (मानचित्रों के आधार पर) सही कल्पना करने में सक्षम हो जाते हैं। जहाँ मानचित्रों में पर्वतों के संकत देखते हैं, पर्वतों के दृश्य उनके मतिष्क में आ जाते हैं और जहाँ वे घाटियाँ देखते हैं, घाटियों और मानव-जीवन का दृश्य सामने आ जाता है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त जो-जो छात्र यात्रा पर जा रहे हैं, उनके अभिभावकों की स्वीकृति भी आवश्यक है अन्यथा किसी छात्र के साथ दुर्घटना आदि होने पर शिक्षक की मुसीबत हो जाती है।

5.4.1. यात्रा की योजना

यों तो उपर्युक्त सभी बातें योजना के अंतर्गत ही आ जाती हैं, परंतु यात्रा की योजना में निम्न चार बातों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए :

1. विभिन्न दलों का गठन एवं दायित्वों का सौंपना – यात्रा पर जाने वाले विभिन्न छात्रों को टोलियों में विभाजित किया जाय। प्रत्येक टोली का एक नायक हो। प्रत्येक नायक एवं सदस्य के व्यक्तिगत दायित्व हों। छात्रों के शिक्षण के लिए भी यह आवश्यक है कि शिक्षक उन्हें विभिन्न दलों में विभक्त कर दें। पुनः उनके नेता चुन लें। इन विभिन्न दलों को विभिन्न दायित्व सौंप दें, यथा किसी भी सफाई को दायित्व किसी को खाने आदि की व्यवस्था, किसी को पानी की व्यवस्था आदि सौंप दी जाय। यह विभाजन छात्रों की रुचि और क्षमता को देखकर किया जाय तो उपयुक्त होगा।
2. उचित सम्पर्क की व्यवस्था – यदि छात्रों की संख्या अधिक है, तदनुसार टोलियों की संख्या भी अधिक है तो शिक्षक टोलियों के इन्चार्ज द्वारा आवश्यक सम्पर्क रखें। इससे अनुशासन और व्यवस्था बनी रहेगी।
3. यात्रा प्रदेश के तथ्यों की सूची – योजना की तृतीय महत्वपूर्ण बात यह है कि जिस क्षेत्र की यात्रा की जा रही है, उस क्षेत्र में अध्ययन किये जाने वाले बिन्दुओं पर शिक्षक विचार करके, पूर्व सूची बना लें। इस सूची में स्थलों के नाम तथा प्रकार पूर्व नियोजित यात्रा से अधिक लाभावित हो सकते हैं। इससे छात्र यह जान सकेंगे कि किन-किन बातों को उन्हें गौर से देखना है और उनके निष्कर्ष लिखने हैं। परंतु इसके लिए शिक्षक को पहले उस क्षेत्र का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए अन्यथा उक्त यात्रा, शैक्षणिक दृष्टि से अधिक सफल नहीं होगी।
4. मार्ग-दर्शकों की व्यवस्था – चतुर्थ महत्वपूर्ण बात यह है कि विभिन्न प्रकार के स्थलों के लिए विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों की यदि व्यवस्था हो तो और उत्तम होगा, यथा-ऐतिहासिक स्थलों के लिए इतिहास-विशेषज्ञ, कृषि-क्षेत्रों के लिए कृषि-विशेषज्ञ, कल-कारखानों के लिए कारखानों के विशेषज्ञ। इसी प्रकार सामाजिक अध्ययन और अध्ययन के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता हो सकती है। परन्तु यदि शिक्षक पहले से ध्यान दे तो यह व्यवस्था उस क्षेत्र की संस्थाओं से पत्र व्यवहार करके भी की जा सकती है।

6.0. ज्ञान के आधार

मनुष्य के बदलने से उसके मूल्य भी बदलते हैं, समाज की सुखदायक प्रगति के लिए ही नैतिक मूल्यों का विकास होता रहा है। वे नियतिवाद को मानते हैं, साथ ही स्वातंत्र्य को भी। अपराधी को दंड देने के उनके सुझाव भी नए, किन्तु सार्थक लगते हैं। नैतिककर्ता के रूप में वे व्यक्ति के साथ ही समाज को भी जोड़ते हैं। और स्पष्ट रूप से हम कह सकते हैं कि तार्किक चिन्तन मनुष्य के अन्दर एक ऐसी योग्यता है जिसके बिना कोई भी ज्ञान सम्भव नहीं है। अनुभव द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसमें वस्तुओं की उपस्थिति आवश्यक होती है। किन्तु जो ज्ञान अमूर्त है अथवा अवधारणाओं तथा प्रतिज्ञापितियों पर आधारित है ऐसे ज्ञान का आधार तार्किक चिन्तन की आवश्यकता होती है। इसमें अमूर्त चिन्तन की प्रक्रिया निहित होती है। इस अर्थ में ज्ञान का आधार है तर्क-बुद्धि। तुर्कानुमान को प्रायः दो प्रकार का माना गया है –

- निगमनात्मक तथा (Deductive)
- आगमनात्मक (Inductive)।

निगमनात्मक तर्कानुमान का लक्षण यह कि यदि वह वैध होगा तो उसके आधार-वाक्यों से निष्कर्ष अनिवार्यतः निकलेगा। दूसरे शब्दों में, निगमनात्मक तुर्कानुमान में यदि आधार-वाक्यों से निष्कर्ष अनिवार्यतः निकलेगा। यहाँ आधार-वाक्य तथा निष्कर्ष की सत्यता-असत्यता से तात्पर्य उनकी वास्तविक सत्यता-असत्यता से नहीं है। इस प्रकार जब हम कहते हैं कि आधार-वाक्यों के सत्य होने

के निष्कर्ष अनिवार्यतः सत्य होगा तो इसका तात्पर्य सिर्फ इतना है कि यदि आधार-वाक्यों के सत्य होने से निष्कर्ष-अनिवार्यतः सत्य होगा तो इसका तात्पर्य सिर्फ इतना है कि यदि आधार-वाक्य सत्य हो अर्थात् यदि उन्हें सत्य मान लिया जाये तो निष्कर्ष की भी सत्यता अनिवार्यतः स्वीकार करनी होगी। निगमनात्मक तर्कानुगत का सम्बन्ध वैधता-अवैधता से होता है सत्यता-असत्यता से नहीं। सत्य-असत्य प्रतिज्ञप्तियाँ होती हैं, सत्यता-असत्यता से नहीं। सत्य-असत्य प्रतिज्ञप्तियाँ होती हैं, निगमनात्मक तर्कानुमान तो केवल वैध या अवैध होता है। यही कारण है कि वैसा निगमनात्मक तर्कानुमान भी वैध हो सकता है जिसके आधार वाक्य तथा निष्कर्ष सभी वास्तविक दृष्टि से असत्य हो और वैसा निगमनात्मक तर्कानुमान अवैध हो सकता है।

तर्क बुद्धि के दो रूपों का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है :-

- (अ) निगमन तर्क-बुद्धि— इस प्रकार के तार्किक चिन्तन में अनेक नियमों तथा सामान्यीकरण का उपयोग किया जाता है। आदर्शवाद में इस तार्किक चिन्तन का विशेष उपयोग किया जाता है। इस चिन्तन के अन्तर्गत हम किसी यिम के सामान्यीकरण से विशिष्ट की ओर बढ़ते हैं। इसमें प्रतिज्ञप्तियों की विशेष भूमिका रहती है।

उदाहरणार्थ — सामान्यीकरण— विशिष्टीकरण

सभी प्राणी मरणशील है — (सामान्यीकरण या नियम)

कपिल एक व्यक्ति है

कपिल मरणशील है — (विशिष्टीकरण)

- (ब) आगमन तर्क बुद्धि — इसके अन्तर्गत सत्य की सम्भावना रहती है। इसका प्रयोग प्रकृतिवाद के अन्तर्गत किया जाता है। इस प्रकार का चिन्तन विशिष्ट से आरम्भ होकर सामान्यीकरण की ओर बढ़ता है और सत्य की पुष्टि प्रमाणों के आधार पर की जाती है। इसमें परिकल्पनाओं की विशेषतः भूमिका होती है।

जैसे — विशिष्टीकरण — सामान्यीकरण

कपिल एक व्यक्ति है। (विशिष्टीकरण)

कपिल मरणशील है।

सभी प्राणी मरणशील है। (सामान्यीकरण या नियम)

न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के लिए आमन चिन्तन का प्रयोग किया था। उनका प्रश्न था कि सेब पृथ्वी पर क्यों गिरता है ? और इस तरह के अन्य उदाहरण पृथ्वी पर वस्तुओं के गिरने के जब उन्होंने देखे तब इस आधार उन्होंने गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया। आगमन चिन्तन के लिए यह आवश्यक नहीं कि हम सदैव विशिष्ट से सामान्य की ओर सोचेंगे, यह केवल एक संभावना ही है।

संदर्भ:-

1. डॉ. शलिग्राम त्रिपाठी “शिक्षा सिद्धान्त” कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स न्यू दिल्ली (2005)
2. लाल एवं तोमर “विश्व के श्रेष्ठ” शैक्षिक चिन्तक, आर लाल बुक डिपो मेरठ (2004)
3. अग्रवाल, जे. सी. “पाठ्यक्रम विकास एवं विद्यालय अग्रवाल पब्लिकेशन, अगरा (2015-2016)
4. पण्डा, के.बी. “भाषा कौशल एवं संचार साधन” मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी (2013)
5. वर्मा, जे.पी. “भूगोल शिक्षण” आर.लाल बुक डिपो मेरठ (1994)